



THE TIMES OF INDIA

Date: 17-03-17

Attack on freedom

Both Bhansali and Afrin incidents starkly frame India's free speech crisis

In Assam sixteen-year-old Nahid Afrin, the winner of a TV talent show, was all set to sing at an event. But as many as 46 Muslim clerics issued a pamphlet warning against “anti-Sharia acts” performed near mosques and madrasas. While the leaflet was not a fatwa, it is crystal-clear that the word of powerful religious elders, when pitted against a lone teenager, would end up crushing her right to expression. But thankfully, the state swung to her side. The Assam chief minister, the Union law minister and a chorus of other voices spoke for her, defending her from the clerics.

Meanwhile, in Maharashtra, Sanjay Leela Bhansali's Padmavati sets were torched with petrol bombs, by those who bristle at the movie's alleged portrayal of Padmini and Allauddin Khilji. Many Rajputs are emotionally invested in the Padmini legend of female chastity and bravery. A Rajput group called Shri Rashtriya Rajput Karni Sena had earlier assaulted Bhansali and vandalised his sets in Jaipur, and also broken mirrors at the Chittorgarh fort. This incident of actual violence has not been condemned by the government yet. Instead, the Rajasthan social justice minister has actually declared that the film would be vetted by the Karni Sena. The Hindi film industry is arguably India's pop-cultural glue and its biggest source of soft power. The state must stand up for those who want to speak and sing and create, and back their individual rights against the 'hurt sentiments' of Taliban-style community 'representatives'. Instead, the Rajasthan government's stand not only legitimises vigilantism, it says that the custodians of tradition can actually dictate the bounds of art and expression.

Free speech is a foundational value of the Indian republic, guaranteed by the Constitution. If a teenage singer or a Bollywood costume drama are deemed reason enough to abridge the right to free expression, India is looking at a dire future indeed. Bigotry on all sides, and whether emanating from Hindu, Muslim or caste fundamentalisms, must be resisted by the state. In that sense, the difference in the Afrin and Bhansali cases is also striking. By selectively invoking freedom of expression for Muslims, and disregarding it entirely when it comes to the feelings of powerful Hindu groups, the ruling party is also sending a dangerous majoritarian message. Given low per capita incomes, India's hard power is limited. If its soft power too is degraded, what is it left with?

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 17-03-17

नौकरी के क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पर विचार की दरकार

देश के कॉर्पोरेट जगत के जोरशोर से अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाने से महज एक दिन पहले भारतीय स्टेट बैंक की चेयरपर्सन अरुंधती भट्टाचार्य ने एक संजीदा टिप्पणी की। उन्होंने कहा कि देश के सबसे बड़े बैंक में शुरुआती स्तर पर 33 फीसदी महिला कर्मचारी हैं। अलबत्ता शीर्ष प्रबंधन स्तर पर यह संख्या महज 4 फीसदी है। देश के सबसे बड़े निजी बैंक आईसीआईसीआई में भी स्थिति बेहतर नहीं है।

आईसीआईसीआई ग्रुप द्वारा किए गए एक अध्ययन के मुताबिक कनिष्ठ प्रबंधन स्तर पर जितने कर्मचारी नौकरी छोड़ते हैं उनमें महिलाओं की संख्या उनके प्रतिनिधित्व से दो फीसदी ज्यादा है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस स्तर पर महिलाओं की संख्या 25 फीसदी है जबकि नौकरी छोड़ने वाले कर्मचारियों में उनकी संख्या 27 फीसदी है। इससे ऊपरी स्तर पर उनकी आपूर्ति लाइन प्रभावित होती है।

बैंक में माध्यमिक प्रबंधन स्तर पर भी महिलाओं के नौकरी छोड़ने की दर इसी अनुपात में है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कनिष्ठ प्रबंधन स्तर पर अधिकांश महिलाओं की उम्र 26 से 30 के बीच होती है। यह वह उम्र होती है जब उनकी शादी होती है और वे परिवार शुरू करती हैं। अध्ययन में कहा गया है कि इस स्तर पर महिलाओं के नौकरी छोड़ने की दर दो फीसदी ज्यादा होने के बीच यही एकमात्र नहीं हो सकता है लेकिन यह स्पष्ट है कि यह एक अहम कारण है। एसबीआई और आईसीआईसीआई दोनों ने महिला कर्मचारियों के अनुकूल नीतियां बनाकर उनके नौकरी छोड़ने पर लगाम लगाने की कोशिश की है। उदाहरण के लिए एसबीआई ने इस सप्ताह महिला कर्मचारियों के लिए दो साल की छुट्टी और घर से काम करने की सुविधा की घोषणा की। आईसीआईसीआई बैंक ने महिलाओं के लिए आईवर्कएटहोम योजना शुरू की है जिसमें उन्हें एक साल तक घर से काम करने की इजाजत दी गई है। इस अवधि को आगे भी बढ़ाया जा सकता है।

इसके साथ ही उनके लिए कुछ और सुविधाएं भी शुरू की गई हैं। जैसे कारोबार के सिलसिले में यात्रा करने वाली महिला प्रबंधकों को यात्रा भत्ता देना, उनके छोटे बच्चों और उनकी देखभाल करने वालों के ठहरने की सुविधा। बैंकिंग क्षेत्र को अमूमन महिलाओं के लिए अच्छा माना जाता है (दस में एक कंपनी की अगुआई ही महिलाओं के हाथों में है) लेकिन यहां उनके नौकरी छोड़ने की दर चिंताजनक है। दूसरे क्षेत्रों में तो हालत बदतर है। उदाहरण के लिए विश्व बैंक के मुताबिक भारत के कामगारों में केवल एक चौथाई ही महिलाएं हैं जो दुनिया के औसत 50 फीसदी से बहुत कम है। देश की कामकाजी महिलाओं में करीब 63 फीसदी खेतों में काम करती हैं। कृषि क्षेत्र के इतर दूसरे क्षेत्रों में महिलाओं की हिस्सेदारी 20 फीसदी से भी कम है। वास्तव में परेशान करने वाली तस्वीर है। पिछले कुछ दशकों से शिक्षा तक महिलाओं की पहुंच बढ़ी है लेकिन करीब 78 फीसदी पात्र स्नातक महिलाएं संगठित कार्यबल का हिस्सा नहीं बनती हैं। ये वे महिलाएं होती हैं जो केवल सामाजिक कारणों से अपनी पढ़ाई पूरी करती हैं, न कि संगठित कार्यबल में भागीदार बनने की इच्छा के कारण। यही कारण है कि अधिकांश स्तरों पर महिलाओं के नौकरी छोड़ने की स्थिति में उनकी जगह पुरुषों को ही रखा जाता है।

इस पारंपरिक सोच में शायद ही कोई सच्चाई है कि देश के शहरी इलाकों में महिलाओं के लिए स्थिति बेहतर है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (68वां दौर) के मुताबिक 2011-12 में ग्रामीण इलाकों में प्रत्येक 100 महिलाओं में से 24.8 काम करती हैं। पुरुषों के मामले में यह संख्या 54.3 थी। शहरी क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी बेहद कम थी। वहां प्रत्येक 54.6 फीसदी कामगार पुरुषों पर केवल 14.7 कामकाजी महिलाएं थीं। इसके बहुत कारण हैं। महिलाओं को महिला होने के कारण कुछ नौकरियों में नजरअंदाज किया जाता है और उन्हें पुरुषों के बराबर वेतन नहीं दिया जाता है। साथ ही कार्यस्थलों पर उनके साथ कई तरह से भेदभाव होता है। कंपनियों का कहना है कि पुरुषों एवं महिलाओं के वेतन में अंतर इसलिए मौजूद है क्योंकि महिलाओं की जिम्मेदारी काम और परिवार के बीच बंटी होती है। महिलाओं को परिवार पर ध्यान देने के लिए नौकरी छोड़नी पड़ती है। जब तक वे फिर से नौकरी पर लौटती हैं तब तक गाड़ी उनके हाथ से निकल चुकी होती है। ऐसे साक्ष्य मौजूद हैं कि अनुभवही होने के बाद करियर के मध्य में महिलाओं के स्वेच्छिक रूप से नौकरी छोड़ने की दर पुरुषों से दो से तीन गुना ज्यादा होती है। लेकिन महिलाओं के साथ नौकरी के किसी भी स्तर पर भेदभाव हो सकता है। भर्ती से लेकर, पारिश्रमिक, व्यावसायिक पृथक्करण और छंटनी तक। महिलाओं और पुरुषों की अर्थव्यवस्था के अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने की प्रवृत्ति होती है और वे एक ही व्यावसायिक समूह में अलग-अलग पदों पर काम करते हैं। महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा सीमित काम दिया जाता है और उनके पार्ट टाइम या शॉर्ट टाइम काम करने की ज्यादा संभावना होती है। प्रोन्नति और करियर विकास में भी उन्हें कई तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। काश महिला दिवस पर होने वाली चर्चा और बेहतर होती।



Date: 16-03-17

For all, and one

Democracy is about numbers. Yet a democratic government must address each citizen

There is a village named Inroak/Chinlak in Nancowry tehsil, Nicobar district of the Andaman and Nicobar Islands. It is unusual because the Census 2011 tells us this village has only one resident. Sparse populations are normal in that part of the country. East Island village in Diglipur (North and Middle Andaman district) has 16 residents. The numbers may not be as low as this, but villages with small populations (say, less than 200) are found in other parts of the country too. The aggregate of such villages is around 90,000, with large numbers concentrated in Himachal Pradesh, Uttarakhand, Rajasthan, Uttar Pradesh, Jharkhand, Odisha and Madhya Pradesh.

Over time, such villages disappear; they grow uninhabited. Residents migrate to larger villages. What is the government's responsibility? We may quibble about the definition of core public goods and services. Whatever be the definition, it is the government's responsibility to ensure every citizen of the country, wherever he or she happens to reside, obtains that core template of public goods and services. There is a village named Malacca, also in Nancowry tehsil, with a relatively higher population of 158. The resident of Inroak/Chinlak can be told — the government can't provide goods and services for a single individual in your village; migrate to Malacca. This may be a logical proposition. But it can't be a moral one and it also violates the government's constitutional obligations. It is like saying, the government, with its limited resources, will develop enclaves like Delhi and Mumbai, with better physical and social infrastructure; those who wish can migrate there.

In the 2014 elections, polling stations were set up for only two voters in some parts of Arunachal Pradesh — it's no different for the core template of public goods and services. Article 280 of the Constitution is about the Union Finance Commission. Article 280(2) states, "It shall be the duty of the Commission to make recommendations to the President as to (a) the distribution between the Union and the States of the net proceeds of taxes which are to be, or may be, divided between them under this Chapter and the allocation between the States of the respective shares of such proceeds; (b) the principles which should govern the grants in aid of the revenues of the States out of the Consolidated Fund of India".

There is a difference between (a) and (b). The Constitution doesn't define grants in aid. But we do get some idea of the rationale for grants in aid from Article 275(1): "Such sums as Parliament may by law provide shall be charged on the Consolidated Fund of India in each year as grants in aid of the revenues of such States as Parliament may determine to be in need of assistance, and different sums may be fixed for different States: Provided that there shall be paid out of the Consolidated Fund of India as grants in aid of the revenues of a State such capital and recurring sums as may be necessary to enable that State to meet the costs of such schemes of development as may be undertaken by the State with the approval of the Scheduled Tribes in that State or raising the level of administration of the Scheduled Areas therein to that of the administration of the rest of the areas of that State". Notice the expression "costs of such schemes of development". Perhaps the Constitution felt no need to define grants in aid, because the idea was implicit in Article 142 of the Government of India Act of 1935 and in a now-forgotten 1936 report titled the Otto Niemeyer Indian Financial Enquiry Report. On tax devolution, this stated, one should "fix the scale of distribution partly on residence and partly on population". But also, "Some Provinces are intrinsically better off than others and at the moment less

urgently in need of additional resources; and it is both fair and inevitable that a certain measure of corrective should be applied, even if it means that Provinces which have been able to attain higher standards of administration should now to some slight extent have to progress more slowly.”

In Article 280(2) of the Constitution, there is (a) and there is (b). Conceptually, (a) is formula-driven, but (b) is about grants in aid. Through a formula and its weights, every Finance Commission tries to “reward” and incentivise good performance by a state, based on indicators like tax effort and fiscal discipline. But it also tries to factor in deprivation through indicators like population, geographical area and distance of average income from mean — this is like splicing together two separate objectives. Though I mentioned Finance Commissions, this was also true of devolution through the historical Planning Commission, formula-driven as well as discretionary. But that’s history. With the plan versus non-plan distinction gone, all Union-state devolution now devolves on the Finance Commission, apart from restructured Centrally sponsored schemes, which no longer have a discretionary template, apart from some special dispensation for Northeastern and Himalayan states and Union Territories. A Delhi mindset is deeply entrenched — how do we know states will be responsible and not profligate? It is this controlling mindset that led to the proliferation of Centrally sponsored schemes since the late 1960s. I have resisted part of my impulse to quote George Santayana. Here is what he says in *The Life of Reason*: “Progress, far from consisting in change, depends on retentiveness.”

The writer is member, Niti Aayog. Views are personal



Date: 16-03-17

‘Attacks on Indians isolated incidents’

Case discussed in detail, says Sushma

The recent hate attacks against members of the Indian community in the U.S. were isolated actions of a few individuals and do not represent the sentiment of the American people towards India, External Affairs Minister Sushma Swaraj said on Wednesday. Speaking in the Lok Sabha, Ms. Swaraj said the government has discussed such attacks at the highest levels of diplomacy with the U.S. and has been assured of an investigation into the causes behind the incidents. “People-to-people contacts are the foundation on which the India-U.S. strategic partnership has been built. Broad sections of the American society have expressed their deep sorrow over these incidents reassures us that despite these individual incidents, the American society values the people-to-people engagement between our two countries,” said Ms. Swaraj in her statement.

A warm welcome

Ms. Swaraj, who made her first appearance in Parliament three months after she underwent a kidney transplant, was greeted by her colleagues with a spontaneous applause. Ms. Swaraj said the U.S. had condemned these attacks at the highest levels. “The Government has taken up this issue with the U.S. Government at very high levels and conveyed our deep concerns. We have called for necessary measures to ensure the safety of [the] Indian diaspora and expeditious investigation into these incidents.” The response came after a series of attacks on Indians in the U.S.. In the first attack in Kansas on February 22, an IT

professional, Srinivas Kuchibhotla, was shot dead. It also left his colleague injured. On March 2, Harnish Patel, a U.S. national of Indian origin was shot dead in South Carolina. The third attack on March 4 injured Deep Rai.



Date: 16-03-17

निष्पक्ष चुनाव का भरोसा न हो खंडित

ईवीएम विवाद एक बार फिर गरम हो उठा है। साल 1982 से जब से ईवीएम का इस्तेमाल शुरू हुआ है, तब से इस पर विवादों की छ्छिटे पड़ते रहे हैं। हालांकि चुनाव आयोग ने बार-बार यह साफ किया है कि यह व्यवस्था सुरक्षित और चाक-चौबंद है। ईवीएम का निर्माण इलेक्ट्रॉनिक्स कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (परमाणु ऊर्जा विभाग का एक उद्यम) और भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड (रक्षा विभाग के अधीन) करते हैं, और ये दोनों श्रेष्ठ क्षमता वाले रक्षा उपकरण बनाने में माहिर हैं। यहां मशीनी और इलेक्ट्रॉनिक, हर तरह से सुरक्षित ईवीएम तैयार किए जाते हैं। इसमें इस्तेमाल सॉफ्टवेयर भी ऐसे प्रोग्राम को समेटे होते हैं, जिनके साथ छेड़छाड़ नहीं की जा सकती। दूसरी मशीन या सिस्टम के साथ इसे जोड़कर संचालित भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए हैकिंग करके ईवीएम से डाटा चुराने या उसे बदलने का सवाल ही नहीं उठता। इसमें इस्तेमाल चिप का सॉफ्टवेयर इलेक्ट्रॉनिक्स कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (ईसीआईएल) व भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड (बीईएल) अपने-अपने यहां विकसित करते हैं। कामकाज के लिहाज से भारतीय ईवीएम दो हिस्सों में बंटी होती है। एक मतदान का हिस्सा होता है और दूसरा नियंत्रण का। कोई भी वोट तभी रिकॉर्ड होता है, जब मतदान केंद्र पर पीठासीन पदाधिकारी मतदान यूनिट को कंट्रोल यूनिट के माध्यम से सक्रिय करता है। हालांकि पीठासीन पदाधिकारी ऐसा हर मतदान के 12 सेकंड के बाद ही कर सकता है। इसीलिए ईवीएम में एक मिनट में अधिक से अधिक पांच मत डाले जा सकते हैं। साल 2006 में इसमें सुरक्षा के अतिरिक्त उपाय भी किए गए थे, जैसे मतदान यूनिट और कंट्रोल यूनिट के बीच डायनेमिक कोड लगाना, एक रियल टाइम घड़ी का इस्तेमाल, डिस्प्ले स्क्रीन और हर बटन को दबाते ही समय व दिन की छपाई।

बावजूद इसके निर्वाचन आयोग भी अपने तर्क सुरक्षा के तमाम कदम उठाता है। जैसे ईवीएम एक सुरक्षित कमरे में रखी जाती है, जिनकी सुरक्षा हथियारों से लैस पुलिसकर्मी करते हैं। सभी संबंधित पक्षों के सामने ही कमरे को खोला जाता है। चुनावों से पहले सभी ईवीएम की प्राथमिक जांच बीईएल और ईसीआईएल अधिकारी तमाम राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों के सामने करते हैं। फिर सभी के बीच मतदान की एक छद्म प्रक्रिया अपनाई जाती है और नतीजों का मिलान किया जाता है। इन सब प्रक्रियाओं को कैमरे में कैद किया जाता है। तमाम पक्षों के संतुष्ट होने के बाद ही ईवीएम को गुलाबी पेपर में सील किया जाता है, जो नासिक के सिक्योरिटी प्रिंटिंग प्रेस में बना होता है। इस सील पेपर पर सियासी दलों के प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं। अगर किसी मशीन की सील टूटी होती है, तो उसका चुनाव में इस्तेमाल नहीं होता।

ईवीएम में उम्मीदवारों के स्थान तय करने की प्रक्रिया भी चुनाव आयोग पर्यवेक्षक की उपस्थिति में उम्मीदवार या उनके प्रतिनिधियों के सामने करता है। इस समय भी एक छद्म मतदान प्रक्रिया अपनाई जाती है, ताकि कोई संदेह न रहे। इन तमाम उपायों से गुजरते हुए जब मतदान का असली दिन आता है, तब भी पीठासीन अधिकारी और उम्मीदवार या उनके प्रतिनिधियों के सामने 100 छद्म वोट डालकर यह सुनिश्चित किया जाता है कि ईवीएम पूरी तरह दुरुस्त हैं। चुनाव के बाद फिर इसी तरह कई सुरक्षा उपायों से गुजरते हुए ईवीएम स्ट्रांग रूम में पहुंचता है, जिसे मतगणना के दिन उम्मीदवारों या उनके प्रतिनिधियों और चुनाव आयोग के पर्यवेक्षक के सामने खोला जाता है।

ईवीएम पर संदेह इसलिए भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसे अदालत से क्लीन चिट मिली हुई है। बॉम्बे हाईकोर्ट (नागपुर बेंच) व कर्नाटक हाईकोर्ट में दो अलग-अलग चुनाव याचिकाओं में ईवीएम पर सवाल खड़े किए गए थे। मगर कुछ तकनीशियनों व कंप्यूटर विशेषज्ञों से जिरह के बाद दोनों हाईकोर्ट न सिर्फ ईवीएम की सुरक्षा को लेकर संतुष्ट हुए, बल्कि कर्नाटक हाईकोर्ट ने यह तक कहा कि 'इलेक्ट्रॉनिक व कंप्यूटर प्रौद्योगिकी की यह अद्भुत उपलब्धि है।' केरल हाईकोर्ट भी ईवीएम की तारीफ कर चुका है। बावजूद इसके वक्त-वक्त पर ईवीएम को लेकर विवाद खड़ा किया जाता है। यह विडंबना है कि कमोबेश सभी राजनीतिक दलों ने इस पर सवाल उठाए हैं, मगर जब इन्हीं मशीनों से उनके खाते में जीत आती है, तो वे अपनी गलतबयानी को स्वीकारते नहीं, चुप्पी साध लेते हैं।

मतदाता पावती रसीद यानी वोटर वेरिफाइड पेपर ऑडिट ट्रायल (वीवीपीएटी) ईवीएम को चाक-चौबंद बनाने की दिशा में उठाया गया एक खास कदम है। इसका पहली बार इस्तेमाल चार सितंबर, 2013 को नगालैंड के नोकसेन विधानसभा सीट पर हुए उपचुनाव में हुआ था। बाद में मिजोरम और दिल्ली में भी इसका उपयोग किया गया। सुप्रीम कोर्ट का आदेश है कि 2019 के आम चुनाव में मतदाता पावती रसीद की पूर्ण व्यवस्था हो। चुनाव आयोग ने अदालत को आश्वासित किया था कि वह तय समय-सीमा में पर्याप्त वीवीपीएटी मशीनें बना लेगा और इस दिशा में 20,000 मशीनों को बनाने के तत्काल आदेश भी जारी किए गए थे। मगर हकीकत यह है कि आज भी हम 20,000 मशीन की बात ही सुन रहे हैं, जबकि 2019 में हमें ऐसी 20 लाख मशीनों की जरूरत होगी और अब तक कम से कम दस लाख मशीनें तैयार हो जानी चाहिए थीं। चिंता की बात यह है कि यदि यही गति रही, तो कैसे चुनाव आयोग 2019 का वादा पूरा कर सकेगा? सवाल यह है कि मौजूदा विवाद के बाद भविष्य की क्या तस्वीर बनेगी? चूंकि कई पार्टियां अदालत में चली गई हैं, इसलिए मुमकिन है कि अदालत उन तमाम मशीनों को सील करनेके आदेश दे, जिन पर संदेह है। इन ईवीएम को राजनीतिक दलों के सामने जांचा-परखा जा सकता है। दूसरी बात यह हो सकती है कि चूंकि वीवीपीएटी मशीनें अब पर्याप्त मात्रा में चुनाव आयोग के पास हो जानी चाहिए, इसलिए वह तमाम राज्यों में विधानसभा चुनावों में मतदाता पावती रसीद की शुरुआत करे। इसके साथ ही चुनाव आयोग को उन तमाम दुष्प्रचारों का भी माकूल जवाब देना चाहिए, जो जंगल में आग की तरह भयानक तरीके से फैल रहे हैं। हालांकि आयोग जवाब देता है, मगर मीडिया उसे उतनी तबज्जो नहीं देता, जितनी कि वह विवादों या अफवाहों को दे रहा है। हमें याद रखना चाहिए कि चुनाव प्रणाली में लोगों का विश्वास और भरोसा सर्वोपरि है। इसे खंडित करने की अनुमति किसी को नहीं दी जानी चाहिए। लोगों व सियासी दलों को जहां सवाल करने का अधिकार है, तो वहीं चुनाव आयोग का भी कर्तव्य है कि वह संतोषजनक जवाब दे।

Date: 16-03-17

कला के स्वयंभू ठेकेदार

हमारे कला माध्यमों पर स्वयंभू सेंसर का दौर कब खत्म होगा? जयपुर के बाद अब कोल्हापुर में संजय लीला भंसाली की फिल्म पद्मावती के सेट पर हुए हमले के बाद फिर यह सवाल उठा है। विवाद फिल्म के उस दृश्य पर है, जो न तो फिल्माया गया है और न ही कोई यह दावा कर सकता है कि वह दृश्य फिल्म में है ही। यह सारा विरोध प्रदर्शन कुछ-कुछ 'सूत न कपास, जुलाहों में लट्ठम लट्ठ' की तर्ज पर है। वह भी तब, जब भंसाली कई बार सफाई दे चुके हैं। यह सारा बवाल राजस्थान की करणी सेना की उस काल्पनिक दृश्य पर आपत्ति से उठा, जिसके अनुसार फिल्म में पद्मावती को अलाउद्दीन खिलजी की प्रेमिका के तौर पर दिखाया गया है और जो उसके अनुसार तथ्यात्मक रूप से गलत है। इसी बात पर करणी सेना के लोगों ने जनवरी में जयपुर में भंसाली के साथ मारपीट तक की थी। जयपुर के महल का वह ऐतिहासिक शीशा भी तोड़ दिया था, जो उस काल की धरोहर के रूप में संरक्षित था। करणी सेना का कहना था कि भंसाली फिल्म में रानी की खराब छवि प्रस्तुत कर रहे हैं और

इससे जन भावनाओं को ठेस पहुंच रही है। हंगामे और हाथापाई के बाद भंसाली जयपुर में फिल्म की शूटिंग रद्द करके कोल्हापुर में सेट लगाकर शूटिंग कर रहे थे।

आखिर फिल्म बनने से पहले ही उसकी कहानी जान लेने, पात्रों की हकीकत पहचान लेने वाले ये तत्व कौन होते हैं और इन्हें अपना अलग सेंसर बोर्ड चलाने की अनुमति किसने दी? कभी धार्मिक भावनाओं, तो कभी इतिहास से छेड़छाड़; कभी तथ्यों में चूक की बात कहकर, तो कभी किसी दूसरे देश के कलाकार के नाम पर उग्र प्रदर्शन और गुंडागर्दी की हद तक विरोध अब आम होता जा रहा है। करण जौहर की ऐ दिल है मुश्किल का विरोध इसलिए हुआ कि उसमें पाकिस्तानी कलाकार ने काम किया था। दंगल का विरोध इसलिए कि उसके कुछ संवाद कुछ ठेकेदारों को असहिष्णुता फैलाने वाले लगे। ये अलग बात है कि प्रदर्शन के बाद फिल्म लोकप्रियता के पैमाने पर भारत की दूसरी सबसे बड़ी फिल्म साबित हुई। पीके जैसी बहुचर्चित फिल्म या ओह माई गॉड जैसी पॉपुलर टेस्ट की फिल्मों भी धर्म के ठेकेदारों को पसंद नहीं आई। सच है कि ऐसे किसी भी विरोध को कभी जन-समर्थन नहीं मिलता, यह भी सच है कि संस्कृति के ये ठेकेदार समाज में घृणा तो बो ही जाते हैं। अब इनमें से ज्यादातर को न तो अपने देश का इतिहास पता होता है, और न अपनी साझी संस्कृति का।

जिस देश के सिनेमा और फिल्मकारों ने विदेशों में भी अपनी अलग छाप छोड़ी हो, उस देश में चंद लोगों को ठेकेदारी के नाम पर ऐसी छूट क्यों मिले? क्या हम मान लें कि अब ये मुट्ठी भर लोग ही हमारी फिल्मों, कला माध्यमों का भविष्य तय करेंगे? ये हमारे फिल्मकारों को उंगली पकड़कर सिखाएंगे कि फिल्म में क्या हो, क्या नहीं? दरअसल, सेंसर बोर्ड से बाहर ऐसे अनधिकृत सेंसर बोर्डों या भीड़तंत्र को नीति-निर्धारक बनने की अनुमति नहीं दी जा सकती। जरूरत इस प्रवृत्ति पर सख्त नियंत्रण की है, वरना आने वाले दिनों में हमारे कला माध्यम बुरी तरह जर्जर हो जाएंगे और सांस्कृतिक बुनियाद हिलती नजर आएगी और तब हम एक विचार शून्य समाज बना रहे होंगे। दुर्भाग्यवश यह सब ऐसे वक्त में हो रहा है, जब हमारा सेंसर बोर्ड भी पंगु और दिशाहीन बन एक अलग तरह की नजीर पेश कर रहा है। ऐसे में, हम यह भी तो दम ठोककर नहीं कह सकते कि कैची चलाने का काम सेंसर बोर्ड पर छोड़ देना चाहिए। सच तो यह है कि कला माध्यम अभिव्यक्ति का जरिया होते हैं और आदर्श स्थिति यही है कि इन पर किसी भी तरह का सेंसर थोपा ही नहीं जाना चाहिए।

Date: 16-03-17

क्या कामकाज की बाधादौड़ ही सशक्तीकरण है

आमतौर पर हमारी यह सोच है कि विकसित देशों में महिलाओं को उनके कार्यस्थलों पर समानता का दर्जा प्राप्त है, पर यह मिथक भर है। विकसित देश हों या विकासशील, महिलाओं को लेकर कमोबेश सभी की सोच एक जैसी है। हाल ही में पोलैंड के एक सांसद ने वॉरसा यूरोपीय संसद में कहा कि 'महिलाओं को पुरुषों से कम वेतन मिलना चाहिए, क्योंकि वे कमजोर होती हैं।' ब्रिटेन के बराबरी और मानवाधिकार आयोग ने डिपार्टमेंट ऑफ बिजनेस, इनोवेशन एंड स्किल्स के साथ मिलकर किए गए एक शोध में बताया कि इंटरव्यू के दौरान असफल रहीं तीन-चौथाई माताओं ने माना कि उनकी गर्भावस्था का पता चलने से नौकरी मिलने के अवसर कम हुए।

अगर भारत में कामकाजी महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि उनके प्रति संपूर्ण कार्य-व्यवस्था असंवेदनशील है। जॉब पोर्टल मॉन्स्टर की हालिया रिपोर्ट इस तथ्य की पुष्टि करती है। देश में एक जैसा काम करने के बाद भी महिलाओं को पुरुषों की तुलना में 25 प्रतिशत कम वेतन मिलता है। 68.5 प्रतिशत महिलाओं ने कहा कि वे अपने कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव को लेकर चिंतित रहती हैं। 62.4 प्रतिशत महिलाएं यह भी मानती हैं कि उनके पुरुष सहकर्मियों को जल्दी प्रमोशन मिलता है। एक तरफ हम यह मानकर चल रहे हैं कि स्त्री आत्मनिर्भर हुई है और दूसरी ओर ये आंकड़े उनकी खराब स्थिति बता रहे हैं।

बसों, ट्रेनों में महिलाओं को दफ्तर की तरफ भागते देखकर हम यह सोचने लगे हैं कि देश में महिलाएं उन्नति कर रही हैं, पर वास्तविकता में ये वे महिलाएं हैं, जो परिवार के आर्थिक उत्तरदायित्वों को बांटने के लिए घर से निकली अवश्य हैं, पर न तो उनके परिवार, और न ही कार्यस्थल उनके प्रति संवेदनशील हैं। कंपनियों में निचले स्तर पर काम करनेवाली महिलाएं अपने खिलाफ होते शोषण के विरोध से भी डरती हैं। वे साहस करें भी तो यौन शोषण के 65.2 प्रतिशत मामलों में कंपनियां कोई कार्रवाई नहीं करतीं। इंडियन बार एसोसिएशन का सर्वे बताता है कि 36 प्रतिशत भारतीय कंपनियों में आंतरिक शिकायत समिति ही नहीं है और 50 प्रतिशत कंपनियों ने यह भी माना कि उनकी समिति के सदस्यों को महिलाओं के प्रति यौन दुर्व्यवहार के कानून की जानकारी नहीं है। हमारी संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का ढांचा ही ऐसा है कि स्त्रियों के प्रति हो रहे दुर्व्यवहार के लिए उन्हें ही जिम्मेदार माना जाता है और यह भी स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार की घटनाएं कार्य-व्यवस्था का हिस्सा हैं। खुद को आधुनिक और समानता का पैरोकार मानने वाली कॉरपोरेट कंपनियां अपनी महिला कर्मचारियों को निचले स्तर के पदों तक ही सीमित रखने की भरपूर कोशिश करती हैं।

तर्क यह दिया जाता है कि महिलाएं अति भावुक और परिस्थितियों से घबरा जाती हैं, इसलिए उन्हें नेतृत्व पदों पर नहीं बिठाया जाता है, जबकि हाल ही में हुए एक अध्ययन से पता लगता है कि महिलाएं लीडरशिप में पुरुषों को मात देती हैं। 3,100 से ज्यादा महिला और पुरुषों पर किए गए इस अध्ययन में पाया गया कि महिलाएं पारदर्शिता, सहानुभूति और समस्याएं सुलझाने के मामले में बेहतर हैं, पर पुरुष अहं किसी भी स्थिति में महिला नेतृत्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। फोर्ब्स पत्रिका में चंद भारतीय महिलाओं की तस्वीर से संपूर्ण महिलाओं की स्थिति का उसी रूप में अनुमान लगाना गलत होगा, क्योंकि अगर ऐसा होता, तो मात्र 2.7 प्रतिशत महिलाएं कंपनी की प्रमुख नहीं होतीं और न केवल 7.7 प्रतिशत महिलाएं कंपनी बोर्ड की सदस्या। यह स्थिति तो तब है, जब सेबी द्वारा अपनी कंपनियों में कम से कम एक महिला निदेशक रखने का दबाव लगातार बनाया जा रहा है।

क्या यह एक बार यकीन किया जा सकता है कि 2015 से पहले महिला मेकअप आर्टिस्टों को बॉलीवुड में जगह नहीं दी जाती थी, यह स्थिति तब बदली, जब उच्चतम न्यायालय ने इस संदर्भ में लताइ लगाई। फिर भी उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से रोके रखने के लिए सदस्यता शुल्क और शर्तें बढ़ा दी गईं। ऐसी ही कई दूसरी बाधाएं देश की संपूर्ण कार्य-व्यवस्था का हिस्सा हैं, तभी तो महिला वेतनभोगी कर्मचारियों की संख्या में निरंतर गिरावट आ रही है। क्या इसे ही 'सशक्तीकरण' कहा जाएगा?
